



# व्यक्तिवाद नहीं समूहवाद

◆ श्रीराम शर्मा आचार्य

# व्यक्तिवाद नहीं, समूहवाद

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१२

मूल्य : ६.०० रुपये

प्रकाशक :

**युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट**

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

लेखक :

**श्रीराम शर्मा आचार्य**

पुनरावृत्ति सन् २०१२

मुद्रक :

**युग निर्माण योजना प्रेस,**

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

# समाज के साथ ही व्यक्ति का उत्कर्ष सधेगा

जिस समाज में परमार्थ वृत्ति नहीं होगी, उसका अस्तित्व कायम रहना असंभव होगा। अभिभावकों द्वारा बच्चों की सेवा, पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा का ध्यान न रखा जाए और यह वृत्ति समाज में व्यापक बन जाए तो मानव जाति का हास होने लगेगा। परिवार, समाज के व्यावहारिक संबंधों में परस्पर प्रेम और सहानुभूतिजन्य आत्मीयता की भावनाएँ नष्ट हो जाएँ तो समाज के अविकसित, असमर्थ, अक्षम लोगों का जीवन-निर्वाह कठिन ही होगा और वृद्ध, अपंग, अपाहिज, रोगी, दुखी लोगों का जीवन दूभर हो जाएगा। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ इस परमार्थ, परार्थ वृत्ति से जितनी ही शून्य होती जाएँगी उतनी ही सामाजिक व्यवस्था दोषयुक्त बनती जाएगी। व्यक्तिगत लाभ, स्वार्थ सिद्धि, समृद्धि के लिए मनुष्य कितना भी क्यों न करे, वह कितना ही संपन्न और वैभवशाली क्यों न बन जाए किंतु परमार्थ और दूसरों के प्रति प्रेम, सहानुभूति, सहायता, सौजन्यता के अभाव में वह समाज के लिए किसी भी तरह उपयोगी सिद्ध नहीं होता। उससे समाज के विकास में कोई योग नहीं मिलता। साथ ही उसका स्वयं का भी विकास रुक जाएगा। क्योंकि समाज के साथ ही व्यक्ति और व्यक्ति के द्वारा ही समाज का विकास संभव है। ऐसे व्यक्ति के बारे में सोचकर वेद के ऋषि ने स्पष्ट कह दिया है—

मोघमनं विन्दते अप्रचेताः,  
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।,  
न आर्यमणं पुष्यति नो सखायं,  
केवलाघो भवति केवलादी।

— (ऋग्वेद १०. ११७. ६)

“स्वार्थपूर्ण संकीर्ण मनोवृत्ति वाले व्यक्ति ने पास में संग्रहीत धन, संग्रह नहीं किया वरन अपनी मृत्यु को ही संग्रह कर लिया है। जो अपने भाई-बहन को कुछ नहीं देता, जो अपना ही ख्याल रखता है, अपने लिए ही संग्रह करता है, वह केवल पापरूप है, वह चोर है,” ऐसा वेद के ऋषि ने स्वार्थपरायण, अपने लिए ही संग्रह में लीन व्यक्ति के लिए स्पष्ट शब्दों में कह दिया है।

स्वार्थ प्रधान, निजी लाभ रखने के दृष्टिकोण से सुखी, संपन्न, विकसित समाज का निर्माण नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में मनुष्य आपापूर्ती की भावना से प्रेरित होकर परस्पर छीना-झपटी, एक-दूसरे के प्रति षड्यंत्र, ईर्ष्या, द्वेष में लीन हो जाएगा। समाज में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास, संदेह, भय, शंका आदि की वृद्धि होगी और इससे समस्त समाज में विकृतियाँ, दोष पैदा हो जाएँगे। धोखेबाजी, ठगी, भ्रष्टाचार, लूट-खसोट, डकैती, शोषण जैसे भयंकर अपराधों का सूत्रपात मनुष्य की इस स्वार्थ प्रधान, निजी लाभ की संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण ही होता है। व्यक्ति अपने जीवन में कितना भी समृद्ध, शक्तिशाली, संपन्न क्यों न हो ! सुख-शांति, आनंद से वंचित रहेगा। क्षण-क्षण, पल-पल उसे नई चिंता, षड्यंत्र, संघर्ष, दूसरों के आक्रमण का सामना करना पड़ेगा। जीवन उसके लिए एक अभिशाप सिद्ध होगा।

समाज में परस्पर सहानुभूति, सौजन्य, सेवा, सहायता, सहयोग, संगठन आदि पर समाज का विकास निर्भर करता है। यह सब परमार्थ, परार्थ, दूसरों के लिए जीवन दान से ही संभव है। स्वार्थ और संकीर्णता से समाज में विघटन, संघर्ष आदि का ही पोषण होता है।

आवश्यकता इस बात की है कि हमारा जीवन, हमारे प्रत्येक कार्य-कलापों का आधार व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत हो, सार्वभौमिक हो, रचनात्मक और दूसरों के लिए हितकारी हो। मनुष्य अपने लिए न

जिए वरन समाज के लिए, संसार के लिए जिए। इसी सत्य पर व्यक्ति का विकास-उत्थान संभव है और साथ ही समाज में परस्पर सहयोग, आत्मीयता, सौजन्य के संबंध कायम होते हैं। विश्वयज्ञ में मनुष्य का प्रत्येक प्रयास आहुति डालने के सदृश हो तो धरती पर ही स्वर्ग की कल्पना साकार हो उठे।

किसी क्षेत्र में शक्ति-सामर्थ्य अर्जित करके मिला हुआ उच्च पद-प्रतिष्ठा बुरी नहीं है। जीवन के सर्वांगीण विकास में इनकी आवश्यकता भी है, किंतु शक्ति, सामर्थ्य, पद, सत्ता का उपयोग गिरे हुआओं को उठाने के लिए, जीवन-पथ में अटके हुआओं को निकालकर आगे बढ़ाने, आगे बढ़ने वालों को सहारा देने में हो तभी इनकी सार्थकता है।

आनंदोपभोग करना, खुशियाँ मनाना मनुष्य जीवन की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। धरती पर जीव का अवतरण ही यहाँ के सुरदुर्लभ मानवीय आनंद की प्राप्ति के लिए होता है। किंतु इस तरह के आनंद उपभोग जन-जन के साथ मिलकर, समाज के साथ ही मनाए जाने चाहिए। भारतीय संस्कृति और धर्म में सामूहिक मेले, त्योहार, पर्व, रीति-रिवाज इसी सत्य के प्रतीक हैं। नीतिकारों ने व्यक्तिगत एकाकी आनंदोपभोग को कोई स्थान नहीं दिया। हमारे पर्व, त्योहार, मेले आदि अमीर-गरीब, छोटे-बड़े सबके लिए हैं। सुख भी समाज के साथ, दुःख भी समाज के साथ, यही आनंदोपभोग कर जीवन की कठिनाइयों से तर जाने का मूल मंत्र है।

एक व्यक्ति महलों में रंगरेलियाँ मनावे, रोशनी करे और उसके नीचे की झोपड़ी में दीया भी न जले, यह असामाजिक है, हेय है। एक मिठाइयाँ उड़ावे, बहुमूल्य पदार्थों का जूठन नाले में बहावे और दूसरे को सूखी रोटियाँ भी नसीब न हों—यह आनंदोपभोग की प्रवृत्ति का विकृत रूप है। दीपावली मनाई जाती है, घर-घर दीये जलाए जाते हैं,

प्रत्येक व्यक्ति दीपक जला सकता है, इस पर भी कदाचित कोई न जला पावे तो गृहवधुएँ पड़ोस में घर-घर दीपक रखती हैं। कोई घर दीपोत्सव से, दीपावली से वंचित नहीं रहे, यह आदर्श होना चाहिए हमारे आनंदोपभोग का। सब हम ही उपभोग करें दूसरे नहीं—यह आसुरी, असामाजिक प्रवृत्ति है, इसे सदा ही बुरा माना गया है।

इस तरह हमारे जीवन की समस्त प्रवृत्तियों का आधार बहुजन हिताय, परमार्थ परायणता ही होना चाहिए स्वार्थपरायणता नहीं। इसी में हमारे स्वयं के और समाज के जीवन का विकास एवं प्रगति का मंत्र सन्निहित है। सबका हित, सबका सुख, सबका लाभ, कल्याण हमारा जीवन दर्शन होना चाहिए।



# समाज में व्यक्ति का विकास

व्यक्ति और उसका व्यक्तित्व एक सामाजिक चीज है। जिस तरह एक आम के वृक्ष का विशाल अस्तित्व, मधुर फल, शीतल छाया, दूसरे लोगों द्वारा उसकी सेवा, सिंचाई, खाद पानी देने, सुरक्षा करने का परिणाम है, इसी तरह एक व्यक्ति का संपूर्ण व्यक्तित्व समाज के प्रयत्नों का फल है, जिसमें प्रकट रूप से माँ-बाप, भाई-बहन, पड़ोसी, शिक्षक और अदृश्य रूप से समस्त पीछे की पीढ़ियों, सारे मानव समाज का हाथ होता है। माँ-बाप के जीवन विकास में ही कितनों का योग रहा होगा। जिस स्कूल में मनुष्य पढ़ता है उसमें कितने मजदूरों का श्रम, कितने लोगों का धन लगा होगा। फिर उसमें पढ़ाने वाले शिक्षकों के जीवन-निर्माण में कितने लोगों का हाथ रहा होगा। मनुष्य जितनी भी वस्तुएँ उपयोग में लाता है उनके उत्पादन-निर्माण में कितने ही व्यक्तियों का हाथ रहा होगा। मनुष्य के व्यावहारिक अनुभव की वृद्धि कितने लोगों के संपर्क में आने से होती है। इन सबसे पता लगा है कि एक व्यक्ति और उसका व्यक्तित्व समाज के ही प्रयत्नों का परिणाम है।

समाज में रहकर ही व्यक्ति की क्षमताओं की जाँच होती है। उसके छोटे-बड़े, उत्कृष्ट होने की माप भी समाज में ही होती है। भले या बुरे कर्मों के आधार पर ही व्यक्ति को समाज में उच्च या निकृष्ट स्थान प्राप्त होता है। सभी रूपों में व्यक्ति और उसका व्यक्तित्व एक सामाजिक वस्तु है। समाज को पुष्ट, सबल, सक्षम बनाने में, सब भाँति समाज के हित और कल्याण के साधने में ही व्यक्ति की उपयोगिता, वास्तविकता है। समाज से आँखें मूँदकर अपनेपन की भावना रखकर स्वार्थरत होना, सभी तरह से हेय, निषिद्ध और सामाजिक अपराध माना गया है।

व्यक्ति का सामाजिक जीवन में खप जाना, समा जाना व्यक्तित्व का प्राथमिक सूत्र है—एक प्रारंभिक आवश्यकता है। जो समाज के



उपकारों को भुलाकर अपने अस्तित्व एवं व्यक्तित्व को अलग रखते हैं अथवा समाज के साथ असहयोग करते हैं या समाज विरोधी आचरण करते हैं, वे मुख्य रूप से जीवन के नियमों, मूल सिद्धांतों की ही उपेक्षा करते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण मनुष्य को संपूर्ण समाज का विरोध सहन करना पड़ता है और इससे उसके व्यक्तित्व का विकास बंद हो जाता है। जीवन के विकसित तत्त्वों का क्षरण होने लगता है। स्वार्थपरता की मनोवृत्ति मनुष्य को आंतरिक दृष्टि से भी दीन-हीन, एकाकी बना देती है। मनुष्य की स्वयं की शक्ति सीमित और अल्प है। समाज की शक्ति के साथ मिलकर ही वह असाधारण बनती है और फिर उसी से असाधारण कार्यों का संपादन होता है। अतः समाज के साथ व्यक्तित्व का सामंजस्य एवं एकाकार होना जीवन का एक आवश्यक नियम है।

शरीर के सभी अंगों के श्रम, सहयोग, परस्पर योगदान में ही मानव जीवन का अस्तित्व निहित है। कदाचित् विभिन्न अंग परस्पर विरोधी, एकांगी, स्वार्थी आचरण करने लग जाएँ तो समस्त शरीर का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। यदि मुँह से भोजन का स्वाद तो ले लिया जाए और पेट में न ले जाकर उसे थूक दिया जाए तो शरीर की हानि होगी। यदि पेट उस भोजन का संग्रह करके अपने आप में ही रखता जाए, उसका रस बनाकर शरीर को न पहुँचावे तो जीवन का अस्तित्व ही नष्ट हो जाएगा। इसी तरह समाज में भी व्यक्तिगत भाव, शक्ति, लालसा को रखकर किए जाने वाले कार्यों के लिए कोई स्थान नहीं है। व्यक्तिगत उत्कृष्टता, शक्ति, समृद्धि, वैभव, ऐश्वर्य की लालसा, सारे समाज के लिए हानिकारक और स्वयं में भी विष पैदा करने का रास्ता है। इससे सारा समाज प्रभावित होता है। समाज के दूसरे अंगों का शोषण होकर वे दुबले-पतले, शक्तिहीन बन जाते हैं, जो समाज में उसी तरह दूषित और भयंकर होते हैं जैसे शरीर में कोढ़।



# समाज को शक्तिशाली बनावें

धरती पर जीवन की बनावट ही कुछ ऐसी है कि वह अपने आप में सिमटकर नहीं रह सकता। संपूर्ण समाज सृष्टि से प्रभावित होता है और उससे संपूर्ण समष्टि। जिस तरह श्वास-प्रश्वास का संबंध विश्वव्यापी वायुतत्त्व से जुड़ा हुआ है उसी तरह से मनुष्य का जीवन समष्टि के साथ जुड़ा हुआ है और वह स्वयं भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने आस-पास की दुनिया को प्रभावित करता है। इस तरह व्यक्ति का विकास समष्टि के जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। वह जितना इस कड़ी को मजबूत करेगा उतना ही वह अपने और समाज के जीवन को समृद्ध, विकसित करेगा। मनुष्य जितना अपने जीवन को समष्टि के साथ व्यापक बनाता जाता है, वह उतनी ही उच्च कक्षा में प्रवेश करता है। महानता की सीढ़ी पर पैर रखता है।

आस-पास के क्षेत्र का—जिसे समाज कहा जाता है—हमारे व्यक्तित्व के विकास में बहुत बड़ा हाथ होता है। इसलिए प्रतिदान स्वरूप मनुष्य का भी कर्तव्य हो जाता है कि वह उस संस्थान को अधिकाधिक समर्थ और समृद्ध बनावे ताकि वह व्यक्ति के निर्माण एवं विकास में अपना पूरा-पूरा हक निभा सके।

अपने स्वार्थ, अपनी ही मान्यताओं, अपने ही लाभ में आसक्त रहने वाला मनुष्य समाज को तो कमजोर करता ही है, साथ ही अपनी प्रगति में भी बाधक बनता है। वह स्वयं अपनी ही परिधि में गिरफ्तार रहकर समाज के साधनों से लाभ नहीं उठा पाता, इसलिए पिछड़ जाता है, अविकसित रह जाता है। इसीलिए व्यक्तिवादी-स्वार्थमयी भावना की निंदा सभी विद्वानों ने की है। हमारे शास्त्रों में तो स्पष्ट कहा गया है कि यह समस्त संसार भगवान का है, किसी एक व्यक्ति का नहीं, इसीलिए जो व्यक्ति इसकी वस्तुओं पर अनुचित रीति से अधिकार जमाकर अपने हिस्से से ज्यादा सामग्री भंडार में जमा करता है, वह

ईश्वर की दृष्टि में आततायी है—ईश्वरीय आदेश के विपरीत आचरण करने वाला है। इतना ही नहीं, समाज की दृष्टि से भी वह पापी और जनता का अहितकर्त्ता है। इस प्रकार की स्वार्थमयी नीति से वह स्वयं भी भयभीत जीवन व्यतीत करता है और दूसरों को साधनविहीन बनाकर उनके दुःख का भी कारण बनता है। इस प्रकार का आचरण सब प्रकार से गर्हित है और हमें उससे बचकर ही रहना चाहिए।

समाज को अभावग्रस्त देखकर भी हम अपना घर भरे रखें तो यह अपनी मौत को निमंत्रण देना है, क्योंकि दुर्बल समाज हमारी रक्षा नहीं कर सकता। इसके साथ ही एक न एक दिन समाज के कोप का भी भाजन बनना पड़ेगा। ऐसे स्वार्थी लोगों को दूसरों का सहयोग-आत्मीयता मिलना तो असंभव ही है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि अपने समाज के हित में अपना हित समझा जाए, उसकी समृद्धि-विकास में ही मनुष्य का विकास निहित है।

समष्टि में विस्तार पाने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है—सामूहिकता की भावना की। हमारा दृष्टिकोण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनेपन से प्रेरित न होकर समष्टिगत हो। हम जो भी करें उसका प्रभाव समाज पर क्या पड़ेगा, यह विचार करना आवश्यक है। इस तरह के सभी प्रयत्न त्याज्य हैं जिनमें हम अपने लाभ की साधना से समाज के हितों को नुकसान पहुँचाते हों। समाज में जहाँ अन्य लोगों को सरलता से पेट भरने को अन्न न मिले और हम अपने भंडारों में अन्न संगृहीत करें, समाज के बहुत बड़े वर्ग को जहाँ रोटी, कपड़ा, आवश्यक शिक्षा, चिकित्सा आदि की व्यवस्था न हो और हम अपने लिए कोठी-बँगले, आमोद-प्रमोद के साजो-सरंजाम एकत्र करें तो यह ऋषियों की भाषा में पाप होगा। किसी भी स्थिति में हमें उन कार्यों से बचना चाहिए, जिससे अपने लाभ के लिए संपूर्ण समाज का ही अहित कर रहे हों।

हमारे समाजशिल्पी ऋषियों ने (ऋग्वेद १०.१९१.२, ३, ४) स्थान-स्थान पर हमें आदेश देते हुए कहा है—‘संगच्छध्वम् संवदध्वम्’

तुम्हारी गति और वाणी में एकता हो। 'समानी प्रजा सहवोऽन्नभागः।' तुम्हारे खाने-पीने के स्थान व भाग एक जैसे हों। 'समानो मन्त्र समितिः समानी।' तुम्हारी सभा-समितियाँ एक समान हों और तुम्हारे विचारों में सामंजस्य एकरूपता हो। 'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।' तुम्हारे हृदय के संकल्प, भावनाएँ एक सी हों। सामूहिक जीवन की समृद्धि के लिए समाज के विकास के लिए हम सबमें एकता, समानता की भावना का होना आवश्यक है। आवश्यकता इस बात की है कि हम सबमें बंधुत्व की भावना का उदय हो। वेद में कहा भी गया है—

**'अज्येष्ठासोअकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय'**

— (ऋग्वेद ५.६०.५)

हम सब प्रभु की संतान एकदूसरे के भाई-भाई हैं। हममें न कोई छोटा न और कोई बड़ा है। हम सब एक हैं, ऐसी उत्कृष्ट भावना का होना समाज की समृद्धि के लिए आवश्यक है।

जहाँ सामूहिकता, अद्वैत की भावना नहीं रहती, मनुष्य में अपना और परायण का भाव आ जाता है, वहीं संघर्ष, छीना-झपटी, द्वेष-दुर्भावनाओं को प्रोत्साहन मिलता है। वहाँ अनेकों अवांछित तत्त्व पैदा हो जाते हैं। क्रांति का उदय भी इसी से होता है और इन परिस्थितियों में समाज को अशांति के दौर से गुजरना पड़ता है, फिर वे लोग जो अपने लिए ही संग्रह करके रखते हैं, उनका भी अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। बहुधा उन्हें समाज के कोप का भाजन बनना पड़ता है।

हम अपने और समाज के बीच इन विषमताओं को जितना हटाते जाएँगे, जितना हम समाज के साथ घुलते जाएँगे उतना ही समाज शक्तिशाली व समर्थ बनेगा और वह हमारे विकास-समृद्धि में अपना पूरा-पूरा योगदान दे सकेगा। समाज को अपना कुटुंब मानकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को जानना होगा, तब सबके सुख में हमारा सुख होगा, सबके हित में ही हमारा हित होगा।



# सामूहिक चेतना की आवश्यकता

हमारे जीवन के दो बिंदु हैं—एक व्यक्तिगत, दूसरा समष्टिगत। दो बिंदुओं के सहयोग से ही एक सरल रेखा बनती है। व्यक्ति और समष्टि के बिंदुओं को मिला देने पर ही जीवनयात्रा का मार्ग बनता है। यद्यपि ये दोनों एकदूसरे के पूरक हैं, दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। व्यक्तियों के समूह से ही समाज का निर्माण होता है तो व्यक्ति भी समाज की ही देन है, फिर भी हमारी गति-दिशा व्यक्ति से समाज की ओर है। समष्टिगत जीवन ही हमारा ध्येय बिंदु है। एक हमारी जीवनयात्रा का प्रारंभ स्थान है तो दूसरा गंतव्य। व्यक्तिगत जीवन अपूर्ण है। वह सामाजिक जीवन में आत्मसात होकर ही पूर्ण बनता है। ठीक उसी तरह जैसे नदी, समुद्र आदि में बिंदु मिलकर पूर्णता प्राप्त करता है।

व्यक्ति और कुटुंब मरते हैं, नष्ट होते रहते हैं, नए पैदा भी होते हैं किंतु समष्टि का जीवन अखंड है, अनंत है, सदा-सदा चलता रहता है। व्यक्तिगत जीवन सामयिक बरसाती नदी-नालों की तरह है किंतु समाज तो चिर-प्रवाहित सुरसरी की तरह है जो कभी रुकता ही नहीं। यह समष्टि जीवन अनंत है। वह नित्य प्रवाहित और सारभूतपूर्ण तत्त्व है। इसके विपरीत व्यक्ति और उसका आकार-प्रकार अनित्य, अस्थायी, अल्पजीवी, असार है। जो नित्य है, स्थायी और अनंत है, उस समष्टिगत जीवन को लक्ष्य करके यात्रा करना व्यक्ति का अभीष्ट धर्म है।

समाज से परे एकाकी रहकर तो व्यक्तिगत जीवन का भी विकास संभव नहीं है। जीवन-विकास के अनुकूल साधन-परिस्थितियाँ समाज ही जुटा सकता है। विभिन्न शिक्षण संस्थाएँ, उनमें काम करने वाले व्यक्ति, जीवन-निर्वाह के साधन, ज्ञान-विज्ञान, आविष्कार-अन्वेषण के व्यापक कार्यक्रम क्या एक व्यक्ति से संभव हैं? हमारे दैनिक काम में आने वाली विभिन्न वस्तुएँ, कपड़ा, अन्न, मकान, रेल, टेलीफोन, मोटरें, बिजली आदि के निर्माण, उत्पादन व्यवस्था में कितने व्यक्तियों

का हाथ रहा है अब तक? इसका हम अनुमान नहीं लगा सकते। समाज के सहयोग के अभाव में हम एक कदम भी तो आगे नहीं चल सकते। हम एक दिन भी तो जीवित नहीं रह सकते। समाज में रहकर ही हमारा जीवन संभव है। इसी के बीच शक्तियों और गुणों का विकास हो सकता है। अस्तु, समष्टिगत जीवन को ही हम अपना ध्येय बनावें। उसी को शक्तिशाली और समर्थ बनाने में अपना योग दें। सामाजिक जीवन जितना समर्थ, विकसित और व्यवस्थित होगा उतना ही व्यक्ति भी विकास और उन्नति के महान अवसर प्राप्त कर सकेगा।

एकाकी व्यक्ति तो सुख भी नहीं भोग सकता। जिसे हम सुख और आनंद कहते हैं, वह भी तो समाज की ही एक स्थिति है। सुख के स्वर्ग में भी यदि मनुष्य को एकाकी छोड़ दिया जाए तो वह उससे ऊब जाएगा और भयभीत हो उठेगा। दूसरों के साथ ही मनुष्य सुख-आनंद मना सकता है। अकसर हम प्रकृति की दी हुई वस्तुओं को अपने अनुकूल बनाकर, उन्हें अपने लिए संग्रह कर अधिक सुखी होने का प्रयत्न करते रहते हैं। मुझे अधिकाधिक सुख मिले, ऐसा ही तो होता है हमारा प्रयास। किंतु अधिक परिश्रम करने, रात-दिन लगे रहने पर भी तो हमें उस स्थिति का संतोष नहीं मिलता, जहाँ हम कह सकें कि 'सुख मिल गया।' इतना ही नहीं हमारे ये व्यक्तिगत सुखप्राप्ति के प्रयास भी अनंत दुःखों का कारण बन जाते हैं। व्यक्तिगत सुख चाहे कितना ही क्यों न हो, वह सीमित है और अंततोगत्वा दुःख में परिणत होकर हमारी अशांति का कारण बनता है।

आनंद, सुख वस्तुतः आत्मा के गुण हैं। इसलिए ये सार्वभौमिक भी हैं। समष्टि के साथ मिलने वाला सुख ही हमें आनंद दे सकता है। इसलिए निजी सुख के बजाय समष्टि के सुख को महत्त्व देना, उसे सर्वोपरि मानना सुखी होने का आधार है।

जीवन के सभी क्षेत्रों में हमारा ध्येय समष्टिगत है, सामाजिक है। हमारा कार्य-व्यवहार सामाजिक जीवन को परिपुष्ट और विकसित करने के लिए हो। समाज जितना उत्कृष्ट होगा उतना ही व्यक्ति भी उन्नति और विकास के अवसर प्राप्त कर सकेगा। स्वामी रामतीर्थ ने कहा था—“तुम समाज के साथ ही ऊपर उठ सकते हो और समाज के साथ ही तुम्हें नीचे गिरना होगा। यह तो नितांत असंभव है कि कोई व्यक्ति अपूर्ण समाज में पूर्ण बन सके। क्या हाथ अपने को शरीर से पृथक रखकर बलशाली बन सकता है? कदापि नहीं।” समाज के साथ ही हमारी स्थिति भी चलती है।

जिस समाज में व्यक्ति अपने-अपने लाभ, अपने सुख, अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की प्रेरणा से जीते हैं, अपनी व्यक्तिगत जरूरतें पूर्ण करने में ही जीवन बिताते हैं, वह समाज विशृंखलित हो जाता है। सामूहिक ध्येय के अभाव में व्यक्ति की गति स्वकेंद्रित रहती है तो समाज नष्ट हो जाता है। चाहे उसमें कितने ही बड़े विद्वान, योद्धा, राजनीतिज्ञ, शक्तिशाली व्यक्तित्व क्यों न हों ! शास्त्रकार ने लिखा है—

**बहवो यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।**

**सर्वे महत्वमिच्छन्ति तद्वृन्दमवसीदति ॥**

जहाँ बहुत से नेता हैं, सभी अपने को पंडित मानने वाले अंहकारी हैं और सभी अपनी-अपनी महत्ता चाहते हैं, वह समाज नष्ट हो जाता है।

अपने ही हित की बात, अपनी महत्त्वाकांक्षा, अपना लाभ, अपनी उन्नति की बात चाहे वह धार्मिक हो या भौतिक, सामाजिक जीवन के लिए घातक है। हम जो कुछ भी करते हैं, सोचते हैं, उसका आधार समष्टिगत न होकर जब व्यक्तिगत होता है तो अनेक सामाजिक विषमताएँ एवं संघर्ष पैदा हो जाते हैं और सार्वजनिक अशांति

उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत जीवन भी खतरे में पड़ जाता है।

स्मरण रहे, व्यक्ति और समाज की उन्नति साथ-साथ चलती है। यदि समाज कमजोर, विशृंखल, अव्यवस्थित होगा तो व्यक्ति के विकास में समर्थ न हो सकेगा और न वह व्यक्ति की रक्षा कर सकेगा। सामूहिक शक्ति के अभाव में व्यक्ति भी दूसरों द्वारा शोषित होगा। उसे अन्याय-अत्याचार का सामना करना पड़ेगा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इसी कमजोरी के कारण, सामाजिक चेतना के अभाव में अपने ही लाभ और सुख को मान्यता देने के कारण हमें विदेशियों के आक्रमण तथा अत्याचार के दिन देखने पड़े। महमूद गौरी, गजनवी, तैमूरलंग, नादिरशाह को हमारी सामाजिक विशृंखलता, व्यक्तिवाद के कारण ही अपने पैर जमाने में सफलता मिली। हमारी धार्मिक-सामाजिक आस्थाओं को इसलिए नष्ट-भ्रष्ट होना पड़ा। हमारी अपार संपत्ति इसी कारण विदेशों में चली गई और यही प्रमुख कारण था कि हमें शताब्दियों तक गुलामी का जीवन बिताना पड़ा। हम अपने ही मसलों में उलझे रहे। अपने स्वार्थ की पूर्ति में लगे रहे। हमारा उस समय कोई सामूहिक ध्येय नहीं था। हालाँकि उस समय कई विद्वान भी थे, धनी, संपत्तिशाली भी थे, किंतु सामाजिक चेतना के अभाव में अपना तथा जनजीवन का अपमान, शोषण वे नहीं रोक सके। इस व्यक्तिवाद के कारण हमारी बहुत बड़ी पराजय हुई, जिसकी क्षतिपूर्ति हमारा समाज अभी तक नहीं कर पा रहा है। सामूहिक ध्येय को भुलाकर व्यक्तिगत स्वार्थ में लिप्त रहने की त्रुटियों का परिणाम हम बहुत समय से भोगते आए हैं।





# समाज-राष्ट्र के लिए जीवन की आवश्यकता

हमारे देश के एक राजनयिक प्रतिनिधि इंग्लैंड गए हुए थे। उस समय वहाँ पेट्रोल पर कंट्रोल था। सरकारी कूपन से ही पेट्रोल मिल सकता था। उन्होंने भी सरकारी कार्यालय से कूपन प्राप्त कर लिए और एक टैक्सी किराये पर लेकर अपने काम पर निकले। कई दिनों तक वे अपने काम पर घूमते रहे। जब उन्हें स्वदेश रवाना होना था तो उनके पास बहुत से कूपन शेष रह गए। उन्होंने अपनी उदारता दिखाते हुए वे कूपन टैक्सी वाले को देते हुए कहा—“ये आजकल बड़ी कठिनाई से मिलते हैं। इन्हें रखो, काम आँगे।” यह सुनकर टैक्सी वाले की आँखें चढ़ गईं। गुस्से के साथ वह बोला, “क्या आपने मुझे इतना नीच समझ रखा है जो मैं चोरी के अनधिकृत कूपनों से लाभ उठाऊँ। जितना पेट्रोल मुझे नियमित रूप से मिलता है मैं उससे तनिक भी अधिक नहीं ले सकता, यह तो अपनी सरकार के साथ, अपने देश के साथ धोखा है। क्या आपके यहाँ इसे बुरा नहीं समझा जाता?”

भारतीय राजपुरुष बड़े शरमिंदा हुए, उन्होंने टैक्सी वाले से क्षमा माँगी। टैक्सी वाले ने आगे कहा—“मैं गत माह १० दिन बीमार रहा इसलिए जब पहली तारीख को कूपन लेने गया तो जितने कूपन मेरे पास बचे थे, वे अपने कोटे में से कटवा दिए।”

घटना सामान्य सी लगती है किंतु उसमें जितनी देशभक्ति, सामाजिक, नागरिक उत्तरदायित्व की भावना सन्निहित है। शायद इसी प्रबल देशभक्ति और राष्ट्रीय भावना के कारण ब्रिटेन ने बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में अपना बहुत कुछ गँवाकर भी अपने अस्तित्व को पूर्ववत् कायम रखा, अपने देश के गौरव को जीवित रखा।

राजनीतिक दृष्टि से हम स्वतंत्र हो गए लेकिन अभी तक राष्ट्रीय भावना, नागरिक जिम्मेदारियों के प्रति हम सचेत नहीं हो पाए हैं। यही कारण है कि कंट्रोल के समय हमारे यहाँ काला बाजार जोरों पर चलता है। अनाज के भंडार भरे रहने पर भी कृत्रिम महँगाई पैदा करके अत्यधिक मुनाफा हम लोग कमाते हैं और तो और सार्वजनिक निर्माण कार्यों में लगने वाले सामान यथा—सीमेंट, लोहा, कोलतार, लकड़ी आदि बहुत सा सामान चोर बाजारों में बेच दिया जाता है और हमी लोग सस्ता पाकर उसे खरीद लेते हैं, फिर भारी मुनाफे के साथ उसे बेचते हैं। कई महत्वपूर्ण वस्तुएँ, दवा, मशीनें आदि जो बड़ी कठिनाई से प्राप्त विदेशी मुद्रा खर्च करके प्राप्त की जाती हैं, हमारे यहाँ वे भी काले बाजार में पहुँच जाती हैं। ऐसी स्थिति में क्या हम एक स्वतंत्र देश के उत्तरदायी नागरिक कहला सकते हैं ?

सन् १९४८ की बात है कि हमारे देश के एक केंद्रीय मंत्री राष्ट्रमंडलीय सम्मेलन में भाग लेने इंग्लैंड गए थे। सभी प्रतिनिधियों को एक दिन भारत की ओर से, दूसरे दिन इंग्लैंड की ओर से दावत दी गई। इनमें एक ही कंपनी की, एक ही किस्म की सिगरेटें काम में लाई गई थीं, लेकिन दोनों दिन उनके स्वाद में बड़ा अंतर था। बाह्य फरक केवल इतना था कि एक दिन काम में लाए गए पैकेट भारत से खरीदे थे—जो अच्छे थे, दूसरे पैकेट इंग्लैंड से ही खरीदकर आए थे। कंपनी एक ही थी—उसकी शाखा भारत में भी थी। पूछने पर ब्रिटेन के प्रतिनिधि ने बताया—“महायुद्ध के कारण हमारे तंबाकू के खेत बहुत नष्ट हो गए। हमारे पास थोड़ी सी तंबाकू रही है, उसमें से हम अच्छी किस्म को अलग से निकालकर विदेशों में जाने वाली सिगरेटों के काम में लाते हैं, ताकि बाहर हमारी साख नष्ट न हो। घटिया किस्म की

तंबाकू हम अपने ही देश में उपयोग करते हैं। इसलिए आपको यह अंतर मालूम पड़ता है।”

कैसी उदात्त भावना है अपने देश के नाम व उसकी साख की रक्षा के लिए। यही कारण है कि आज भी इंग्लैंड संसार के बाजार में बहुत कुछ छाया हुआ है। वहाँ की बनी चीजें प्रामाणिक और मजबूत समझी जाती हैं। एक हमारे देश का उद्योगपति है, जो निस्संकोच घटिया वस्तु तैयार करके अधिक मुनाफा कमाना अपना अधिकार और धर्म समझता है। कुछ समय पहले की बात है कि रूस ने करोड़ों रुपये के जूते इसीलिए लौटा दिए क्योंकि वे दिखाए गए नमूने से बहुत ही घटिया किस्म के थे। जब भी हम बाजार में जाते हैं तो कई वस्तुओं की मजबूती-असलियत के बारे में विश्वास ही नहीं होता। कैसी विडंबना है ?

जहाँ एक ओर हमारे कंधे पर अपनी स्वतंत्रता का भार है, अपने देश की आन और साख का उत्तरदायित्व है, वहाँ हमारी निम्न उत्पादन नीति, मिलावट, नकली सामान तैयार करना, क्या एक बहुत बड़ा अपराध नहीं है ?

इतना ही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर देश के लिए अपनी आवश्यकताओं को सीमित बनाना पड़ता है, थोड़े में गुजारा करना पड़ता है। कई वस्तुएँ जिनके बिना हमारे जीवनक्रम में कोई विशेष बाधा न पड़े, उनका त्याग भी करना पड़ता है। रूस में क्रांति हुई, देश प्राचीन सामंतवादी शासन से मुक्त हुआ। जन-प्रतिनिधि के रूप में लेनिन ने देश की बागडोर अपने हाथों में सँभाली। उसके सामने देश के नवनिर्माण, औद्योगिक विकास का बहुत बड़ा काम था, जो मशीनों, वैज्ञानिक उपकरणों से ही संभव था, यह सब इंग्लैंड और अमेरिका के बाजारों में थे। इसके लिए रूस के पास विदेशी मुद्रा की कमी थी।

अब रूस के सामने एक ही रास्ता था कि जंगली जानवर, लकड़ी, खाल, मांस, पनीर आदि पश्चिमी बाजारों में बेचकर विदेशी मुद्रा अर्जित की जाए और उससे मशीनें, उपकरण आदि मँगाए जाएँ। लगभग दस वर्ष तक रूसी जनता को तुला हुआ भोजन और मोटे कपड़े पर गुजारा करना पड़ा। बिना डॉक्टर के सर्टिफिकेट के किसी को पाव भर दूध भी नहीं मिलता था। यहाँ तक कि बीमार प्रिंस क्रोपाटकिन को भी दूध नहीं मिला था।

निस्संदेह एक सच्चे नागरिक का यह कर्तव्य है कि अपने आराम के लिए वह समाज की शक्ति को दुर्बल न करें वरन उसे परिपुष्ट करने के लिए अपनी बहुत सी आवश्यकताओं को स्वेच्छा से त्याग करने के लिए भी उद्यत रहे। आजकल हमारे देश में चीनी का संकट चल रहा है और एक हम हैं कि इस पर भी बड़ी-बड़ी दावतें, प्रीतिभोज, शादी-विवाह पर खूब खर्च करते हैं।

जीवन-निर्वाह की सीमित आवश्यकताओं के अतिरिक्त भोग-विलास, मौज-मजे, आराम, सुख-चैन की जिंदगी बिताने के नाम पर हमारे यहाँ कितना अपव्यय होता है, संपत्ति, पदार्थों का कितना नाश होता है? लेकिन हम नहीं जानते कि व्यर्थ ही नष्ट किए जाने वाले पदार्थों को, बड़े भारी अपव्यय को रोककर यदि उसे हम राष्ट्र-निर्माण की दिशा में लगावें तो कोई संदेह नहीं कि कुछ ही समय में हमारा देश संसार में समृद्ध देशों की पंक्ति में खड़ा हो सकने योग्य बन जाए। भारत अपने आप में कोई गरीब नहीं है, पहले भी इसे सोने की चिड़िया कहा जाता था और आज भी संपदाओं की कोई कमी नहीं है हमारे यहाँ। यदि उत्पादन की उपयुक्त व्यवस्था, खर्च करने का सही ढंग और वस्तुओं का सदुपयोग भली प्रकार हो तो हमारे अभाव सब

नष्ट हो जाएँ। किसी भी कारण हमारे देश के विकासक्रम में गतिरोध पैदा नहीं हो सकता।

हमें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे देश कमजोर हो, हमारे समाज की क्षमता नष्ट हो। चोर बाजारी, अधिक मुनाफाखोरी, घटिया उत्पादन, फजूलखरची, वस्तुओं, पदार्थों का दुरुपयोग—ये सभी हमारे लिए कलंक की बात हैं। इनसे देश का सामर्थ्य कमजोर होता है। ये हमारे गौरव और सम्मान के लिए विष हैं। इन्हें तो हमें छोड़ना है, आवश्यकता पड़ने पर अपना सब कुछ भी देश की, समाज की बलिवेदी पर अर्पण करने में नहीं चूकना चाहिए। यही देशभक्ति का सबसे बड़ा तकाजा है।

सर टॉमस रो के डॉक्टर ने बादशाह शाहजहाँ की लड़की का इलाज किया और वह अच्छी हो गई। इसके प्रत्युपकार में शाहजहाँ ने मनचाहा इनाम माँगने के लिए कहा। सर टॉमस रो ने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए कुछ न माँगकर, इंग्लैंड से आने वाले माल पर से चुंगी हटाने की माँग की, जो स्वीकार कर ली गई। इससे इन माँगने वालों का व्यक्तिगत लाभ तो कुछ न हुआ, पर उनके देश से बिना चुंगी चुकाए जो माल भारत में सस्ता बिकने लगा उससे उनके देश का व्यापार बढ़ा और वे इस देश पर अपना राजनीतिक वर्चस्व जमा सकने योग्य सामर्थ्यवान हो गए। इंग्लैंड मालामाल और शक्तिवान हो गया। यह है व्यक्तिवाद को हटाकर उसके स्थान पर समूहवाद की प्रतिष्ठापना करने का प्रतिफल।

इसके विपरीत हमारे देशवासियों ने व्यक्तिवाद को जब से आगे रखा तब से प्रत्येक क्षेत्र में अधःपतित होते चले गए। मुट्ठी भर विदेशी आक्रमणकारी इस देश पर हजार वर्ष तक अपना खूनी पंजा इसीलिए गूडाए रह सके कि हमारी मनोभूमि व्यक्तिगत स्वार्थ तक सीमित हो

गई। सामूहिक सुरक्षा की बात सोच ही न सके अन्यथा इतने बड़े, इतने साधन संपन्न, इतने सुयोग्य सशक्त देश को इतनी लंबी अवधि तक पराधीनता के पाश में जकड़े रहने का कोई कारण न था।

अध्यात्मवादी अपनी व्यक्तिगत मुक्ति, स्वर्ग-कामना एवं ऋद्धि-सिद्धि में लग गए। धर्मवादी अपनी पूजा-प्रतिष्ठा कराने के लिए अपने-अपने नाम के नए-नए संप्रदाय खड़े करने लगे। देश, समाज-जाति, प्रांत, भाषा और संप्रदाय जैसी संकीर्णताओं में बँट गया। हर व्यक्ति अपने छोटे दायरे के लाभ की बात सोचने लगा और बड़े दायरे की उपेक्षा की जाने लगी। यही कारण था कि हमारा हजार वर्ष का इतिहास कलंक और पराजय का इतिहास बन गया। इन संकीर्णताओं को यदि हम अब भी न छोड़ सके और समूहवादी विशाल दृष्टिकोण न अपना सके तो न व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध होगा और न समूहगत सुस्थिरता के दर्शन होंगे। आवश्यकता इस बात की है कि हम व्यक्तिगत लाभ की उपेक्षा करके सामाजिक लाभ एवं उत्थान की बात सोचें। सबके लाभ को बढ़ाने के लिए अपने लाभ को तिलांजलि देना सीखें। परस्पर सहयोग करना सीखें और सम्मिलित शक्ति से मिल-जुलकर आगे बढ़ने की सर्वानुभूत सचाई को अपनावें।



# सहयोग-भावना मानवता की प्रतीक है

सांसारिक उन्नति और सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह करने के लिए तो सहयोग की आवश्यकता सभी स्वीकार करते हैं, पर यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि अधिकांश मानवीय सद्गुणों और धर्म का मूल मानी जाने वाली सद्वृत्तियों का भी इससे बहुत अधिक संबंध है। जिन व्यक्तियों में सहयोग की वृत्ति का उचित रूप में विकास हो जाता है, उनमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना भी जाग्रत हो जाती है। वे अनुभव करने लगते हैं कि संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे वास्तव में एक ही वृहत् परिवार के अंग स्वरूप हैं और उनमें जितना अधिक सहयोग, ऐक्य, मित्रता की भावना का प्रसार होगा उतना ही सबका लौकिक-पारलौकिक हित साधन हो सकेगा।

यों तो आरंभ से ही मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसने जो कुछ उन्नति, प्रगति की है उसका श्रेय अधिकांश में उसकी सहयोग वृत्ति को ही है। मनुष्य ने इस पृथ्वी को जो अपने निवास योग्य बनाया है, बड़े-बड़े पर्वतों, जंगलों, सागरों में घुसकर जो जीवन-निर्वाह के साधन खोज निकाले हैं, जिन लाखों की आबादी वाले, सुख-सुविधापूर्ण नगरों का निर्माण किया है और सड़कें, रेल, तार, जहाज आदि का विस्तार करके सारी दुनिया को एक घर के समान बना दिया है, इस सब का मूल आधार सहयोग की प्रवृत्ति ही है। व्यापार-व्यवसाय, उद्योग-धंधे, शिक्षा-प्रचार, सुरक्षा की व्यवस्था के क्षेत्रों में भी आज जो बड़ी-बड़ी योजनाएँ सफल होती दिखाई पड़ रही हैं, वे सहयोग-मूलक प्रवृत्तियों का ही परिणाम हैं। इतना ही क्यों, ज्ञान-विज्ञान की

आश्चर्यजनक उन्नति, जनसेवा करने वाली विशाल संस्थाएँ, लोक-कल्याण के लिए की जाने वाली युग परिवर्तनकारी योजनाएँ—सभी की सफलता का आधार मनुष्यों का पारस्परिक सहयोग ही होता है। मनुष्य जितने अधिक परिमाण में और जैसी हार्दिकता के साथ सहयोग-भावना का परिचय देते हैं, उतनी ही अधिक सफलता इन विषयों में मिलती है।

पर इस सांसारिक सफलता से भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण मानवता की भावना है, जो क्रमशः मनुष्य के अंतर में विकसित हो रही है और जिसके प्रभाव से एक ऐसी मानव जाति का उदय हो रहा है जो भविष्य में वैसे ही पारस्परिक प्रेम और सौहार्द्र के साथ रह सकेगी जैसे आज एक कुटुंब या परिवार के व्यक्ति रहते हैं। कुछ लोगों को यह एक असंभव कल्पना जान पड़ेगी और वे वर्तमान विश्वव्यापी संघर्ष की घटनाओं को देखकर इसे एक सुहावना स्वप्न मात्र बतलाएँगे, पर वास्तव में वे एक विचारक की दृष्टि से देखना नहीं जानते। एक समय था कि सभी मनुष्य बहुत छोटे-छोटे समुदायों में बँटे थे और वे आपस में लड़ते-झगड़ते, एकदूसरे की हत्या ही नहीं करते रहते थे, वरन एकदूसरे को मारकर खा जाने में भी कोई दोष नहीं समझते थे। उस अवस्था से परिवर्तन होते-होते मनुष्य अब ऐसी स्थिति में आ पहुँचे हैं कि संसार में प्रतिवर्ष सैकड़ों, हजारों व्यक्ति ऐसे निकल आते हैं जो बिना किसी स्वार्थ या संबंध के अपरिचित व्यक्तियों की रक्षार्थ प्राण दे देते हैं। आज ऐसे व्यक्तियों की भी नितांत कमी नहीं है जो मानवता के हित को अपने स्वार्थ या सुख की अपेक्षा अधिक महत्त्व का मानते हैं और संसार की भलाई के कामों में सच्चे हृदय और निःस्वार्थ भाव से योग देते हैं। इन सब बातों को देखकर निश्चय होता है कि सहयोग कृत्रिम या क्षणस्थायी चीज नहीं है वरन वह उसकी आंतरिक प्रकृति का एक अंश ही है और जैसे-जैसे मनुष्य का आत्मिक विकास होता



जाएगा वैसे-वैसे ही उसकी भी वृद्धि होती जाएगी और एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जबकि वह दरअसल एक सार्वभौम स्वाभाविक प्रवृत्ति का रूप ग्रहण कर ले।

सहयोग की प्रवृत्ति से मनुष्य के हृदय में जो मैत्री भावना उत्पन्न होती है, वह वास्तव में अपने और दूसरों के कल्याण की दृष्टि से मनुष्य का सबसे बड़ा सद्गुण है। संसार में कृष्ण, वेद व्यास, गौतम बुद्ध, महावीर, ईसा आदि मानवता के त्राता महापुरुष हुए हैं, उनकी सबसे बड़ी विशेषता मैत्री भावना ही थी। वे समस्त प्राणियों को आत्मवत् दृष्टि से देखते थे और उनके कष्टों को दूर करने के लिए ही अपनी समस्त शक्ति लगाते रहते थे। इन्हीं महापुरुषों की शिक्षा का परिणाम है कि मनुष्य देश और काल के अंतर को भुलाकर धीरे-धीरे मनुष्यमात्र को अपना भाई या संबंधी समझने की तरफ अग्रसर हो रहा है और आज उसके दिमाग में यह विचार पैदा हो चुका है कि संसार के समस्त देशों के भेदभावों को प्रत्यक्ष रूप से मिटाकर एक मानव समाज की स्थापना की जाए।

यह मानवमात्र की एकता का सिद्धांत कोई नई बात नहीं है। भारतीय मनीषी तो इसे हजारों वर्ष पूर्व 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अथवा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' जैसे सूत्रों द्वारा प्रकट कर चुके थे और यहाँ के हजारों भक्तों तथा संतों ने उनके अनुसार आचरण करके भी दिखा दिया था। आज भी भारत और अन्य देशों के महापुरुष इसी सत्य का अनुभव करके उसे संसारव्यापी रूप देने का प्रयत्न कर रहे हैं। यद्यपि ऊपरी दृष्टि से इस समय अधिकांश मनुष्य घोर स्वार्थ की तरफ प्रेरित जान पड़ते हैं और एक ऐसे संघर्ष की तैयारी में संलग्न हो रहे हैं जिससे मानवीय सभ्यता का सर्वनाश ही संभव जान पड़ता है, पर इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि मानवता की एकता का संदेश इस समय सबके कानों तक पहुँच गया है और वह उनकी आत्मा को

झकझोर रहा है। जिस बात को पहले केवल थोड़े से मनीषी ही कहते और समझते थे, वह अब साधारण लोगों के दिमाग में भी उठने लग गई है। इससे आशा होती है कि नाश के काले बादलों के होते हुए भी अंत में सहयोग का सूर्य ही अधिक शक्तिशाली सिद्ध होगा और संसार अंधकारमय प्रदेश से निकलकर सार्वजनिक सुख-शांति के सुप्रकाशित युग में जा पहुँचेगा।

सहयोग तथा मैत्री की यह भावना सामूहिक रूप से संसार का कल्याण करने वाली ही नहीं, वरन व्यक्तिगत दृष्टि से भी वह मनुष्य मात्र के लिए हितकारी है। इसके प्रभाव से मैत्री भाव रखने वाला व्यक्ति सब प्राणियों का सुहृद बन जाता है। जब वह अपने हृदय में किसी के प्रति शत्रुता का भाव नहीं रखता तो किसी अन्य के मन में भी उसके प्रति विरोध की भावना उत्पन्न नहीं होती और दुनिया की तरफ से निर्भय बन जाता है। यदि संयोगवश उसे कोई कष्ट भी उठाना पड़ता है तो वह उसे दैवी विधान या आकस्मिक दुर्घटना समझकर जरा भी क्षुब्ध नहीं होता। वह किसी अन्य मनुष्य को इसका कारण नहीं समझता और इसलिए सब प्रकार की चिंताओं और भयों से मुक्त रहता है। पारस्परिक वैमनस्य या मनोमालिन्य के भावों के निरंतर बढ़ते रहने के कारण जो अगणित कठिनाइयाँ उत्पन्न होकर मानवजीवन को कष्टपूर्ण बना देती हैं, वह उन सबसे मैत्री भावना द्वारा ही बच जाता है।

इतना ही नहीं, इस प्रकार की मनःस्थिति बन जाने पर मनुष्य की आंतरिक प्रसन्नता, आह्लाद की भावना स्थायी हो जाती है और समयानुसार व्यावहारिक रूप में प्रकट होकर उसको दिन पर दिन ऊँचा उठाती जाती है। इस भावना की प्रेरणा से मनुष्य सबके सुख-दुःख में आगे बढ़कर भाग लेने लगता है, दीन-दुखी और अभावग्रस्तों का हर तरह से सहायता करने लगता है, सदैव दूसरों की सेवा और

सहायता के लिए प्रस्तुत रहता है। ऐसी स्थिति में पहुँच जाने पर अन्य सब लोग भी उसके प्रति प्रेम और आदर की भावना रखने लगते हैं। उसकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनते हैं और उसे अपनी शक्ति के अनुसार सहयोग भी देने लगते हैं। संसार में जितने भी बड़े और छोटे महापुरुष हुए हैं उन सबका यही जीवनक्रम रहा है। ऐसी ही लोग सर्वसाधारण द्वारा नेता, अगुआ या माननीय माने जाते हैं।

सहयोग भावना वाला मनुष्य जिस प्रकार भीतर से शुद्ध भावयुक्त और सबका हित चिंतन करने वाला होता है उसी प्रकार बाहर से भी सदैव सबके साथ मधुर व्यवहार करने वाला, सहानुभूति रखने वाला तथा विनीत होता है। वास्तव में उसकी आंतरिक मैत्री भावना के परिणामस्वरूप उसका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि वह किसी के प्रति कठोरता अथवा निर्दयता का व्यवहार नहीं कर सकता और जहाँ तक संभव होता है वह प्रत्येक की सहायता के लिए हमेशा तैयार रहता है। इस कारण अन्य लोगों के हृदय पर भी उसका प्रभाव पड़ता है और सज्जनों का तो कहना ही क्या, दुर्जन व्यक्ति भी अधिक समय तक उसके प्रतिकूल नहीं रह सकते।



# पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता

कई लोग कहते हैं—“मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं। मुझे किसी का परामर्श नहीं चाहिए, मेरे पास दिमाग है, शक्ति है, हाथ हैं, पाँव हैं, मैं सब अपने आप कर लूँगा।” इस तरह की डींग हाँकते हुए बहुत से लोग देखे जा सकते हैं, जो अपने आप को सर्वगुण संपन्न समझते हैं। वैसे स्वावलंबी, आत्मविश्वासी, साहसी होना एक अनिवार्य गुण है, किंतु सही-सही सूझ-बूझ के और विवेक के अभाव में गुण भी भयंकर दोष बन जाते हैं, जो मनुष्य को पतन और विनाश के गर्त में धकेल देते हैं। अनाड़ी और अविवेकी ड्राइवर कीमती गाड़ी को भी टकराकर चूर-चूर कर देता है। इसके विपरीत संतुलित समझदार ड्राइवर खराब गाड़ी को भी मंजिल तक पहुँचा देता है। दूसरों के परामर्श-अनुभवों से लाभ न उठाकर अपनी बुद्धि को ही सबसे अधिक समझने वाले उन हठी-अनाड़ी व्यक्तियों में से हैं जो अपनी मूर्खता की कुल्हाड़ी अपने भविष्यरूपी पैरों में स्वयं ही मारते हैं।

ईंट से ईंट जोड़कर ही विशाल भवन का निर्माण होता है। बूँद-बूँद मिलकर ही नदी-सरोवर-सागर बनते हैं। जल का प्रत्येक कण अपना अस्तित्व अलग रखेगा तो उसकी कितनी हस्ती होगी इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। एक मिट्टी का कण, सूरज की क्षीण सी रोशनी उसे सुखा देगी, हवा का एक झोंका उसे छिन्न-भिन्न कर देगा। अनेक व्यक्तियों के परस्पर योग से ही एकदूसरे की उन्नति एवं विकास संभव है और इसी पर समाज, राष्ट्र की समृद्धि निर्भर करती है। प्रत्येक निर्माण-कार्य में अनेक मजदूरों के खून-पसीने का योग होता है।

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक सीमा होती है। डॉक्टर चिकित्सा क्षेत्र में विज्ञ होता है तो एक कलाकार अपनी कला में; राजनीतिज्ञ राजनीति में तो साहित्यकार साहित्य में। कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज में एकदूसरे से नीचा है, दूसरे से अयोग्य है। कलाकार के सामने डॉक्टर अयोग्य है तो डॉक्टर के सामने इंजीनियर और साहित्यकार के सामने व्यापारी। इस तरह एक क्षेत्र में पूर्ण होकर भी मनुष्य अन्य क्षेत्रों में अपूर्ण, अयोग्य ही है। अतः उन अंगों की पूर्ति बिना दूसरों के परामर्श-सहयोग के नहीं हो सकती। स्वयं अपने ही क्षेत्र में विकास-उन्नति के लिए मनुष्य को दूसरों के सहयोग, परामर्श की आवश्यकता होती है। डॉक्टर बनने के लिए कितने ही डॉक्टरों के ज्ञान, सहयोग, मार्गदर्शन की आवश्यकता पड़ती है। विचारक को अन्य अनेक की विचारधारा का ज्ञान रखना पड़ता है।

विकास सहयोग से ही होता है। एक पीढ़ी के उपार्जित ज्ञान, अनुभव, असफलताओं की जानकारियों से लाभ उठाकर दूसरी पीढ़ी उससे अनुसंधान का सहारा लेकर नए तथ्यों की खोज करती है।

समन्वय, सहयोग, समाज के साथ मिलकर कदम बढ़ाने में ही एकदूसरे की उन्नति एवं विकास निर्भर करते हैं। जो जीवन में इसे स्वीकार नहीं करता, अपने हठ और अनाड़ीपन को महत्त्व देता है, उसकी दुर्गति निश्चित है। यह बौद्धिक दिवालियापन है और यही रोग आगे बढ़कर व्यक्ति और समाज दोनों को ही नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। जाति-भेद, वर्ण-लिंग भेद, विभिन्न दल, सांप्रदायिकता, भाषा संबंधी भेदभाव के रूप में होने वाले संघर्ष, व्यक्ति-व्यक्ति में होने वाली तनातनी आदि विसंगतियाँ इसी बौद्धिक दिवालियेपन की निशानी हैं। परस्पर के सहयोग, समझौते, समन्वय से असंभव को संभव बनाया जा

सकता है तो इसके अभाव में हम परस्पर टकराकर नष्ट भी हो सकते हैं।

पारस्परिक सहयोग का मानव जीवन में अत्यधिक महत्त्व माना गया है। हमें दूसरों के सहयोग से लाभ उठाना चाहिए और अपनी क्षमताओं को दूसरे के काम आने देने के लिए उदार बुद्धि रखनी चाहिए। एकाकीपन एवं स्वार्थपरता तुच्छता का चिह्न है। यह मानसिक संकीर्णता, भीरुता और घृणा की अभिव्यक्ति मात्र है।

व्यक्ति और समाज, दोनों का कल्याण इसी पर निर्भर है कि लोग व्यक्तिवाद की संकीर्णता छोड़कर समूहगत लाभ को ही अपना वास्तविक लाभ समझें। एकाकी व्यक्ति समाज को हानि पहुँचाकर अपना कुछ लाभ कर भी ले तो वह देर तक टिक न सकेगा। किंतु यदि समाज समर्थ, सशक्त, समृद्ध हुआ तो उसका लाभ हर नागरिक को, हर व्यक्ति को मिलेगा। इस तथ्य को हम जितनी जल्दी समझ लें और सामूहिक भावना का विकास करें, उतना ही उत्तम है।



# ऐसी सफलता किस काम की

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि वह जीवन में उच्च स्थान प्राप्त करे। लोग बड़ी सफलताओं के स्वप्न देखते हैं। बड़े-बड़े मनसूबे बाँधते हैं। अधिकांश लोग जीवन के बाह्य क्षेत्र में नाम, बड़ाई, प्रतिष्ठा, श्री, समृद्धि, उच्च पद आदि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। थोड़े-बहुत अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल होते हैं। इनमें भी बहुत कम इन विभूतियों, समृद्धियों के स्थायी सुख को भोग पाते हैं, क्योंकि ये सफलताएँ बहुत कम ही ठहरती हैं।

स्वामी रामतीर्थ संन्यास लेने से पूर्व कालेज में प्रोफेसर थे। एक दिन बच्चों के मानसिक स्तर की परीक्षा लेने के लिए उन्होंने बोर्ड पर एक लकीर खींच दी और विद्यार्थियों से कहा—“इसे बिना मिटाए ही छोटा कर दो।” एक विद्यार्थी उठा किंतु वह प्रश्न के मर्म को नहीं समझ सका, उसने रेखा को मिटाकर छोटा करने का प्रयत्न किया। इस पर स्वामी जी ने बच्चे को रोका और प्रश्न को दोहराया। सभी बच्चे बड़े असमंजस में पड़ गए। थोड़े समय में ही एक लड़का उठा और उसने उस रेखा के पास ही एक बड़ी रेखा खींच दी। प्रोफेसर साहब की खींची हुई रेखा अपने आप छोटी हो गई। उस विद्यार्थी की बुद्धि की सराहना करते हुए स्वामी जी ने कहा—“विद्यार्थियों ! इससे आपको शिक्षा मिलती है कि दुनिया में बड़ा बनने के लिए किसी को मिटाने से नहीं वरन बड़े बनने के रचनात्मक प्रयासों से ही सफलता मिलती है। बड़े काम करके बड़प्पन पाया जा सकता है।”

जो लोग दूसरों को मिटाकर, दूसरों को नुकसान पहुँचाकर, उनकी नुकताचीनी करके बड़े बनने का स्वप्न देखते हैं, उनका असफल

होना निश्चित है। यदि ऐसे व्यक्तियों को प्रारंभिक दौर में कुछ सफलता मिल जाए तो अंततः उन्हें असफल ही होना पड़ेगा, क्योंकि सफलता का नियम धनात्मक है, ऋणात्मक नहीं। संत विनोबा जी के शब्दों में सफलता सिद्धांत की व्याख्या सहज ही समझी जा सकती है। उन्होंने कहा है—“पड़ोसी के पास सात सेर ताकत है और मेरे पास १० सेर। यदि दोनों परस्पर टकराएँगे तो परिणाम में  $१० - ७ = ३$  सेर ताकत ही बच रहेगी। दोनों पक्षों की ही हानि होगी। दूसरी स्थिति में यदि मिलकर श्रम किया जाएगा तो  $१० + ७ = १७$  सेर की ताकत पैदा होगी, जिससे अधिक मात्रा में सफलता अर्जित की जा सकेगी। मेरे दो हाथ और आपके दो हाथ मिलकर  $२ + २ = ४$  हाथ होते हैं। किंतु जब परस्पर टकराएँगे तो  $२ - २ = ०$  नतीजा शून्य ही निकलेगा।”

जब लोग दूसरों की गरदन काटकर स्वयं पनपने की कोशिश करते हैं, दूसरे के बढ़ते हुए पैरों को खींचकर, उनको गिराकर आगे बढ़ने के स्वप्न देखते हैं, दूसरों का खून चूसकर अपने को मोटा बनाना चाहते हैं, दूसरों को उजाड़कर अपना घर बसाना चाहते हैं, दूसरों के सुख छीनकर स्वयं सुखी बनना चाहते हैं तो वहाँ इनसानियत का नहीं शैतान का नियम लागू हो जाता है, जिसके परिणाम अंततः प्रतिकूल, दुःखप्रद ही मिलेंगे। इस अमानवीयता के बर्बर नियम की धरती पर पतन, असफलता, विनाश की कब्रें पग-पग पर बनी हुई हैं और किसी भी क्षण मनुष्य अपने उन्माद के साथ उनमें सदा के लिए सो जाएगा। दूसरों को उजाड़ने के प्रयत्न में मनुष्य स्वयं ही उजड़ जाता है, दूसरों का गला काटने वालों को स्वयं ही अपना गला काटने को मजबूर होना पड़ता है। दूसरों के विनाश, असफलता, पतन के स्वप्न



देखने वालों के जीवन में ही ऐसा दृश्य उपस्थित हो जाता है। मानवता का लंबा-चौड़ा इतिहास इसका साक्षी है। जब-जब उक्त उन्माद में पागल मनुष्य ने जनजीवन पर कहर ढाए तो वह स्वयं ही नेस्तनाबूद हो गया। रावण, बाणासुर, कंस, दुर्योधन, हिटलर, मुसोलिनी, चँगेज खाँ, नादिरशाह जैसे शक्तिसंपन्न, कुशल नीतिज्ञ, चतुर व्यक्तियों को भी हमेशा के लिए नष्ट हो जाना पड़ा। इतिहास में सहज ही ऐसे अनेकों उदाहरण मिल जाते हैं।

